Shodh Prabha: A Multidisciplinary Journal
ISSN: 3108-2726 (Online), Volume-2, Issue-4, (July - August) 2026

प्रेमचंद का नारीवाद: त्याग, आदर्श और मर्यादा का शिकंजा

अनुराधा
स्नातकोत्तर (हिंदी)

सारांश –

प्रस्तुत आलेख में प्रेमचंद साहित्य में मौजूद नारीवादी दृष्टिकोण का पुनर्मूल्यांकन पेश किया गया है। प्रेमचंद, जिन्होंने स्त्री सम्बन्धी समस्याओं को अपनी रचनाओं में प्रमुखता से स्थान दिया और जिन्हें प्रगतिशील साहित्यकार के रूप में जाना जाता है, उनके कथा संसार की 'सेवासदन', 'बड़े घर की बेटी', 'गोदान', 'निर्मला' जैसी मूल रचनाओं के आलोचनात्मक पुनर्पाठ के माध्यम से उनकी प्रगतिशीलता पर विचार किया गया है। इस आलेख में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि प्रेमचंद का नारीवाद नारी को पूर्ण स्वतंत्रता देने के बजाय उसे 'त्याग', 'आदर्श' और 'मर्यादा' के शिकंजे में जकड़ देता है। इस आलेख में इतिहासकार 'चारू गुप्ता' के शोध पत्र "पोर्ट्रायल ऑफ विमेन इन प्रेमचंद्स स्टोरीज: ए क्रिटिक" और दलित चिंतक 'डॉ. धर्मवीर' की रचना "प्रेमचंद: सामंत का मुंशी" से प्रेमचंद को लेकर उनकी स्थापनाओं को तार्किक रूप से पेश किया गया है। इस आलेख में दिखाया गया है कि कैसे प्रेमचंद की रचनाओं में 'स्त्री का देवत्वकरण' वास्तव में पितृसत्तात्मक अनुकूलन का छद्म है। अंततः यह आलेख इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि प्रेमचंद ने स्त्री को सामाजिक बेड़ियों से मुक्त नहीं किया, बल्कि उस पर आदर्शवाद का मुलम्मा चढ़ा दिया जो कि स्त्री की स्वायत्तता को बाधित करता है।

कूट शब्द – 'पितृसत्तात्मक ढाँचा', 'मर्यादा की बेड़ियाँ', 'प्रायश्चित का जाल', 'स्त्री का देवत्वकरण', 'सहनशीलता का महिमामंडल', 'मूक आत्मसमर्पण', 'त्याग', 'आदर्शों का शिकंजा'।

प्रस्तावना –

हिंदी साहित्य के जगत में मुंशी प्रेमचंद का नाम सर्वाधिक विख्यात है। प्रेमचंद की रचनाओं में यथार्थ व आदर्श स्पष्ट रूप से झलकते हैं। प्रेमचंद ऐसे प्रगतिशील कथाकार के रूप में उभरकर सामने आए जिन्होंने अपनी रचनाओं में समाज के यथार्थ को खुलकर प्रस्तुत किया। उन्होंने हिंदी उपन्यास और कहानी को काल्पनिक लोक से खींचकर आम आदमी, किसान, दलित और स्त्री के दारुण यथार्थ से जोड़ा। समाज में व्याप्त समस्याओं को उन्होंने अपनी रचनाओं में विषय के तौर पर अपनाया, विशेषकर स्त्री-जीवन की विसंगतियाँ जैसे— बाल विवाह, दहेज का संकट, अनमेल विवाह और वेश्यावृत्ति जैसी संगीन विसंगतियों पर उन्होंने जिस सहानुभूति के साथ लिखा, वह वाक़ई प्रशंसनीय है। उनकी इसी विशेषता ने उन्हें अपने युग का सबसे प्रगतिशील लेखक बना दिया और यही कारण भी है कि उनके साहित्य को आम जनता का जीवंत दस्तावेज़ भी कहा जाता है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्रेमचंद ने महिलाओं की दयनीय स्थिति को सुधारने और उन्हें सम्मान दिलाने के भगीरथ प्रयास किए हैं; किंतु जब उनके साहित्य का गंभीर रूप से पुनर्मूल्यांकन किया जाता है, तो प्रेमचंद का स्त्री विषयक दृष्टिकोण गहरे वैचारिक अंतरविरोधों में घिरा नज़र आता है, जिससे उनकी प्रगतिशीलता पर ही प्रश्नचिन्ह लग जाता है। यहीं से एक गंभीर सवाल खड़ा होता है कि क्या वास्तव में प्रेमचंद का स्त्री-दर्शन स्त्री को आज़ादी देने के पक्ष में है या फिर उसे 'त्याग', 'आदर्श', 'मर्यादा' और देवत्व के एक ऐसे परिष्कृत शिकंजे में कस देता है जो कि पितृसत्तात्मक

व्यवस्था को और अधिक मज़बूत कर देता है? प्रेमचंद का प्रारंभिक उपन्यास 'सेवासदन' हो या फिर उनके बाद के उपन्यास 'निर्मला' और 'गोदान' या उनकी कहानी 'बड़े घर की बेटी'; सभी पहली बार में तो आदर्श और यथार्थ की एक मिसाल कायम करते नज़र आते हैं तो वहीं जब हम उनका तार्किक रूप से पुनर्पाठ करते हैं, तो उनकी रचनाओं में जो उनके स्वयं के स्त्री सम्बन्धी विचार प्रकट होते हैं, उससे उनके पितृसत्तात्मक अनुकूलन की सीमाएँ धीरे-धीरे खुलने लगती हैं। यह स्पष्ट होने लगता है कि प्रेमचंद अपनी प्रगतिशीलता के बावजूद उस पारंपरिक सोच से मुक्त नहीं हो पाते जो सदियों से नारियों को उनके अधिकारों से वंचित रखकर मर्यादा, त्याग का पाठ पढ़ाती आ रही है। प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में स्त्री को उसके अधिकार देने के बजाय उसे 'देवी', 'माता' और 'त्याग' की मूर्ति जैसे ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित करने में ही अपनी सफलता समझी। क्या यह पुरुष-सत्तात्मक समाज की एक चाल नहीं कि स्त्री को पूजनीय बनाकर उसे देवत्व का मुलम्मा चढ़ा दिया जाए ताकि वह जमीन से उतरकर अपने इंसानी हक और बराबरी के लिए विद्रोह न कर सके?

जब भी कोई स्त्री इस देवी के साँचे को तोड़कर स्वतंत्र होकर जीना चाहती है, तो प्रेमचंद का साहित्य भी उसे संदेह की नज़र से देखने लगता है, जिसका सटीक उदाहरण उपन्यास 'गोदान' की पात्र मालती को लेकर उनके विचारों में मिलता है। हैरानी की बात तो यह भी है कि जहाँ एक तरफ पुरुष समाज स्त्री को देवत्व का दर्ज़ा देता है, तो वहीं दूसरी तरफ वह उसे अपने अनुसार ढालना भी चाहता है। प्रेमचंद की रचनाओं में भटकी हुई और विद्रोह करती हुई स्त्रियों का मार्गदर्शन, उनका उद्धार भी किसी पुरुष पात्र के माध्यम से कराया जाता है; फिर चाहे वह 'गोदान' की आज़ाद नारी 'मालती' हो या 'सेवासदन' की विद्रोही नारी 'सुमन'।

प्रेमचंद के स्त्री सम्बन्धी दृष्टिकोण को इतिहासकार 'चारू गुप्ता' अपने प्रसिद्ध शोध पत्र "पोर्ट्रायल ऑफ विमेन इन प्रेमचंद्स स्टोरीज : ए क्रिटिक" में रेखांकित करती हुई कहती हैं कि प्रेमचंद स्त्री की दुर्दशा पर गहरी सहानुभूति तो जताते हैं और उन्हें रूढ़ियों से आज़ाद तो करना चाहते हैं, लेकिन मर्यादा नाम की लक्ष्मण-रेखा को पार किए बिना (गुप्ता, 1991, पृ. 89)। प्रेमचंद की दृष्टि में आदर्श स्त्री वह नहीं है जो अपने अधिकारों के लिए पुरुषों की ही तरह विद्रोह का बिगुल फूँक दे, बल्कि वह है जो कष्टों को सहकर क्षमता और करुणा की प्रतिमूर्ति बनकर परिवार को बिखरने से बचाए, यही दृष्टिकोण स्त्री को एक स्वतंत्र इंसान के रूप में स्वीकार करने के बजाय उसे देवी जैसे एक ऊँचे आसन पर बिठा देता है। स्त्री का ऐसा 'देवत्वकरण' ही वास्तव में पुरुष-सत्ता का वह हथियार है जो उसे अपनी इच्छाओं और आज़ादी के लिए लड़ने से रोकता है; क्योंकि जब स्त्री को 'देवी' और 'त्याग की मूर्ति' घोषित कर देते हैं, तो फिर उसके द्वारा अपनी आज़ादी माँगना और व्यवस्था के खिलाफ विरोध करना उसकी अपवित्रता करार दिया जाता है।

प्रेमचंद की रचनाओं के पुनर्पाठ से उभरे इसी अंतर्विरोध का दलित चिंतक डॉ. धर्मवीर भी अपनी पुस्तक "प्रेमचंद: सामंत का मुंशी" में खुलासा करते हैं। डॉ. धर्मवीर का जो मुख्य प्रहार है, वह प्रेमचंद के जातीय और सामंती पहलू पर है, किंतु उनकी यह स्थापना जो कि नारीवादी विमर्श पर भी उतनी ही लागू होती है कि प्रेमचंद अपने भीतर के सामंती और पारंपरिक संस्कारों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाए थे। उनके कथा-संसार में स्त्रियों को शोषित होते हुए तो दिखाया है लेकिन उनके पास उस शोषण से मुक्ति का कोई आधुनिक और क्रांतिकारी उपाय नहीं है। प्रेमचंद 'निर्मला' जैसी नायिकाओं को जीवन भर आत्मसमर्पण और घुट-घुटकर मरने के लिए छोड़ देते हैं, जिसे पढ़कर पाठक के अंदर सहानुभूति तो पैदा हो जाती है लेकिन क्या सहानुभूति पितृसत्तात्मक ढाँचे को हिलाने में सक्षम सिद्ध होती है? बिल्कुल नहीं।

अतः यह लेख प्रेमचंद की रचनाओं के मौलिक पुनर्पाठ से उत्पन्न होने वाले अंतर्द्वंद्व पर विचार करता है, और स्पष्ट

करता है कि रचनाओं में दिखने वाली सहानुभूति वास्तव में केवल स्त्री मुक्ति का एक छद्म है। प्रेमचंद स्त्रियों को सामाजिक जंजीरों से पूरी तरह मुक्त नहीं करते हैं बल्कि उन्हीं जंजीरों पर 'आदर्श', 'मर्यादा' और 'पारिवारिक गरिमा' का एक ऐसा आकर्षक मुलम्मा चढ़ा देते हैं जिससे स्त्रियों के बंधन में और अधिक जटिलता आ जाती है। प्रेमचंद की रचनाओं में कहीं-कहीं पर स्त्री द्वारा व्यवस्था को झकझोरा तो जाता है, किंतु अंत में उसे उसी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अनुकूल होना पड़ता है। यहाँ प्रेमचंद के उपन्यासों 'गोदान', 'निर्मला', 'सेवासदन' और कहानी 'बड़े घर की बेटी' के साथ ही चारू गुप्ता और डॉ. धर्मवीर के आलोचनात्मक तर्कों के आधार पर प्रेमचंद के साहित्य से उभरने वाले अंतर्द्वंद्व का विस्तार से मूल्यांकन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

'बड़े घर की बेटी' और 'सेवासदन': मर्यादा की बेड़ियाँ और प्रायश्चित का जाल

प्रेमचंद के स्त्री संबंधी विमर्श के भीतर छिपे अंतर्द्वंद्वों को हम उनकी हिंदी की प्रारंभिक और बहुचर्चित कहानी 'बड़े घर की बेटी' से समझेंगे। उनकी इस कहानी की नायिका आनंदी जो कि एक समृद्ध और अच्छे परिवार से आती है, वह अपने ससुराल के अभावों के साथ बड़ी सरलता से सामंजस्य स्थापित कर लेती है; लेकिन कहानी में असली द्वंद्व तो तब शुरू होता है जब आनंदी का देवर लालबिहारी उस पर अपनी खड़ाऊ फेंककर मारता है, जिससे आनंदी के आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती है और वह उसका प्रतिरोध करने के लिए सजग हो जाती है। एक बार के लिए तो आनंदी अपने परिवार के सामंती ढाँचे को उखाड़ फेंकने की क्षमता रखने वाली स्त्री के रूप में नज़र आती है, किन्तु जब लालबिहारी अपनी ग्लानि के चलते घर छोड़ने लगता है, तो आनंदी का सारा प्रतिरोध खत्म हो जाता है। वह न केवल अपने देवर के अपराधों को भूल जाती है, बल्कि परिवार को टूटने से बचाने के लिए अपने आत्मसम्मान तक की बलि चढ़ा देती है। कहानी के आखिर में गाँव के बुज़ुर्ग लोग कहते हैं— "बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं; बिगड़ा हुआ काम भी बना लेती हैं" (प्रेमचंद, 2015, पृ. 7)। यह वाक्य कहीं न कहीं प्रेमचंद की पितृसत्तात्मकता को ही दर्शाता है, प्रेमचंद आनंदी को 'बड़े घर की बेटी' बताकर वास्तव में उसे एक आदर्शवादी बेड़ी में बाँधते नज़र आ रहे हैं। वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि एक स्त्री तभी महान समझी जाएगी जब वह पुरुष के दुर्व्यवहार को सहकर भी उसके परिवार की मर्यादा को कायम रखे; अर्थात् प्रेमचंद एक ऐसी स्त्री को स्थापित करते हैं जिसका प्राथमिक कार्य अपने अस्तित्व को मिटाकर भी पारिवारिक ढाँचे को बचाना है। ऐसी वैचारिकता जो स्त्री को अपनी गरिमा से समझौता करने पर महान घोषित करती है उसे 'मर्यादा का शिकंजा' कहना बिल्कुल भी ग़लत नहीं होगा।

अगर हम बात करें प्रेमचंद के पहले उपन्यास 'सेवासदन' में प्रेमचंद की वैचारिक असमर्थता और भी विस्तार से प्रकट होती है। उपन्यास की नायिका सुमन जो समाज में बेमेल विवाह जैसी कुरीति और पति के क्रूर व्यवहार से तंग आकर अपने घर को छोड़ देती है, या यूँ कहें कि पति द्वारा घर से संदेह के चलते निकाल दी जाती है; और उसके वेश्या बनने का कारण भी पति का आर्थिक और मानसिक शोषण ही होता है। उपन्यास के आरंभ में तो प्रेमचंद ने सुमन को एक ऐसी विद्रोही नायिका के रूप में प्रकट किया जो पितृसत्ता की जड़ें हिलाने तक का माद्दा रखती थी। जैसे-जैसे उपन्यास अपने अंतिम छोर तक पहुँचता है, तो प्रेमचंद का सुधारवादी और आदर्शवादी नज़रिया हावी होने लगता है और वे उसके विद्रोही रूप को पूरी तरह परिवर्तित कर देते हैं। उपन्यास में सुमन को वेश्यावृत्ति के दलदल से पुरुष पात्र के द्वारा ही बाहर निकाला जाता है; पहले तो उसे एक विधवा आश्रम और अंत में सेवासदन नामक संस्था में भेज दिया जाता है जहाँ वह बच्चों और परित्यक्त स्त्रियों की सेवा में लीन हो जाती है।

हैरानी की बात तो यह है कि जिस पति द्वारा सुमन को घर से बाहर निकाला जाता है और उसके वेश्या बनने का कारण भी बनता है, वही उसे अंत में पश्चाताप और सेवा का पाठ पढ़ाता है। यहाँ हम साफ़ तौर पर देख सकते हैं कि प्रेमचंद

के इस उपन्यास में सुमन को वेश्यावृत्ति के दलदल से तो बाहर निकाल दिया जाता है, लेकिन उसे एक स्वतंत्र, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर और समाज के समानांतर खड़ी होने वाली स्त्री के रूप में विकसित नहीं होने दिया जाता। प्रेमचंद को लेकर डॉ. धर्मवीर ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद: सामंत का मुंशी' में जो सामंती नैतिकता की बात की थी वह उपन्यास में साफ़ दृष्टिगोचर होती है कि कैसे प्रेमचंद सुमन को उसकी सामाजिक और यौनिक आज़ादी के लिए क्षमा नहीं कर पाते और सुमन को समाज में सम्मान पाने के लिए 'तपस्या,' 'प्रायश्चित' और 'पवित्रता' की अग्निपरीक्षा से गुजरना पड़ता है। इस प्रकार हमें यह कहने में बिल्कुल भी संकोच नहीं होना चाहिए कि 'सेवासदन' वास्तव में सुमन के लिए मुक्ति का साधन नहीं, बल्कि एक मानसिक कारागार है, जहाँ उसकी स्वतंत्र चेतना को सेवा के आवरण में ढक दिया जाता है और सुमन एक विद्रोही नायिका तो नहीं बन पाती लेकिन पितृसत्ता द्वारा स्वीकृत पवित्र और त्यागी स्त्री के ढाँचे में ढलने के लिए विवश ज़रूर कर दी जाती है। अतः 'बड़े घर की बेटी' की आनंदी हो या 'सेवासदन' की सुमन दोनों ही रचनाओं में प्रेमचंद आरम्भ में तो स्त्री को रूढ़ियों के खिलाफ खड़ा करते हैं, लेकिन जैसे ही वह पितृसत्ता के ढाँचे को तोड़ने वाली होती है, वे उसे 'त्याग' और 'प्रायश्चित' का रास्ता दिखाकर वापस उसी व्यवस्था के अनुकूल बना देते हैं। प्रेमचंद की रचना में एक और बात ध्यान देने की यह है कि प्रेमचंद पुरुषों की गलतियों को तो क्षम्य समझते हैं, लेकिन स्त्रियों की गलती को वे उसके चरित्र की कमी के रूप में देखते हैं।

'निर्मला' और 'गोदान': सहनशीलता का महिमामंडल और आधुनिक स्त्री के प्रति संशय

प्रेमचंद की शुरुआती रचनाओं 'बड़े घर की बेटी' और 'सेवासदन' में मर्यादा और प्रायश्चित का जाल बिछा हुआ नज़र आता है, तो प्रेमचंद के बाद के उपन्यास जैसे 'निर्मला' और 'गोदान' में यह प्रवृत्ति 'सहनशीलता के महिमामंडल' और 'आधुनिक स्त्री के प्रति संशय' के रूप में सामने आती है। 'निर्मला' उपन्यास जिसे अनमेल विवाह और दहेज प्रथा की त्रासदी का दस्तावेज़ माना जाता है, उपन्यास में निर्मला का विवाह उसकी दोगुनी उम्र के व्यक्ति से कर दिया जाता है और लगभग उसी की उम्र के बच्चों की माता बना दिया जाता है। विवाह के बाद निर्मला का जीवन कभी न खत्म होने वाले दुखों से भर जाता है। वह एक के बाद एक मुसीबतों को चुपचाप सहन करती रहती है, उसके पति के छोटे से संदेह के चलते धीरे-धीरे उसका पूरा परिवार नष्ट हो जाता है। पूरे उपन्यास में निर्मला न तो व्यवस्था और न ही अपने पति के खिलाफ़ कोई भी प्रतिवाद करती है, बल्कि अपनी नियति को चुपचाप स्वीकार करते हुए कहती है— "जिसके भाग्य में रोना ही लिखा है, वह रोएगी ही; रोने के सिवा और कर ही क्या सकती हूँ।" (प्रेमचंद, 1928, पृ. 261, परिच्छेद 27)

उपन्यास में कहीं-कहीं पर निर्मला स्त्री की विवशता प्रकट करती है, उसके वाक्य— "पुरुष चाहे बूढ़ा हो, रोगी हो, या कैसा भी हो उसे पत्नी चाहिए; लेकिन स्त्री का जीवन दूसरों की सेवा के लिए ही बना है।" निर्मला का मरने से पहले का अंतिम मार्मिक वाक्य जो पाठकों को सहानुभूति से भर देता है, जब वह अपनी बेटी को ननद के हाथों सौंपते हुए कहती है कि "चाहे कुंवारी रखिएगा चाहे विष देकर मार डालिएगा पर किसी कुपात्र के गले न मढ़िएगा।" (प्रेमचंद, 1928, पृ. 262, परिच्छेद 27) प्रेमचंद निर्मला की वेदना प्रकट करके पाठकों के मन में अगाध सहानुभूति तो जगा देते हैं, लेकिन इस बात को नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता कि निर्मला की मूक सहनशीलता को वे उसका आभूषण भी बना देते हैं।

डॉ. धर्मवीर अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद: सामंत का मुंशी' में प्रेमचंद की पारंपरिक और सामंती मानसिकता की ओर इशारा करते हुए कहते हैं कि प्रेमचंद ने उपन्यास की नायिका को एक असहाय और रोती-बिलखती सहनशीलता की देवी के रूप में पेश किया है जो परिस्थितियों के आगे पूरी तरह आत्मसमर्पण कर देती है, क्या ऐसी सहनशीलता का महिमामंडल

वास्तव में स्त्री को यह सिखाने की पितृसत्तात्मक चाल नहीं है कि अन्याय के खिलाफ़ आवाज़ उठाने के बजाय चुपचाप सहना ही भारतीय नारी का धर्म है?

ऐसे ही अंतर्द्वंद्व को हम और भी विराट रूप में प्रेमचंद के अंतिम महाकाव्यात्मक उपन्यास 'गोदान' में देखते हैं। उपन्यास की नायिका 'धनिया' जिसे हिंदी साहित्य के सबसे मज़बूत स्त्री पात्रों में गिना जाता है क्योंकि वह शोषकों को खरी-खोटी सुनाती है और गोबर की प्रेमिका को अपने घर में आश्रय देकर रूढ़ियों को तोड़ती है, लेकिन यह भी जान लेना जरूरी है कि धनिया की पूरी ताकत के पीछे संचालक तत्व क्या है? वह है उसका पारंपरिक मातृत्व और पतिव्रता धर्म। धनिया होरी की अनेक गलतियों, उसकी कायरताओं और रूढ़िवादिताओं को कोसती ज़रूर है लेकिन अंततः तो वह होरी को ही अपना 'परमेश्वर' मानती है। धनिया अपना पूरा जीवन होरी के अस्तित्व और मर्यादा को बचाए रखने के लिए ही अर्पण कर देती है। उसका पूरा संघर्ष सिर्फ़ होरी के लिए है, उसके स्वयं के अस्तित्व के लिए बिल्कुल भी नहीं। प्रेमचंद धनिया को जुझारू बनाकर भी उसके पैरों में पति-परमेश्वर और पारिवारिक मर्यादा की जटिल बेड़ियाँ बाँध देते हैं।

गोदान उपन्यास की ही दूसरी महिला पात्र 'मिस मालती', जिसका व्यक्तित्व प्रेमचंद के 'आधुनिक स्त्री के प्रति संशय' को पूरी तरह उजागर करता है। मिस मालती, जो इंग्लैंड से पढ़ कर आई एक आज़ाद, आत्मनिर्भर और सिगरेट पीने वाली और पुरुषों से बराबरी का व्यवहार करने वाली आधुनिक महिला है; प्रेमचंद शुरू में उसे एक नकारात्मक छवि के रूप में पेश करते हैं। उपन्यास का पात्र मिस्टर मेहता है, जिसके भाषण की एक-एक पंक्ति पितृसत्तात्मक सोच के रंग में रंगी हुई है। मेहता स्त्री को एक देवी के रूप में और पुरुष से श्रेष्ठ बताते हुए कहते हैं कि– "स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है, जितना प्रकाश अंधेरे से। मनुष्य के लिए क्षमा और त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श हैं। नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है, पुरुष धर्म और आध्यात्म और ऋषियों का आश्रय लेकर उस लक्ष्य पर पहुँचने के लिए सदियों से ज़ोर मार रहा है, पर सफल नहीं हो सका। मैं कहता हूँ, उसका सारा अध्यात्म और योग एक तरफ और नारियों का त्याग एक तरफ"(प्रेमचंद, 1998, पृ. 125,भाग-15)। मेहता स्त्री को माता के रूप में भी प्रतिष्ठित करते हुए कहते हैं कि — "नारी केवल माता है, और इसके उपरांत वह जो कुछ है वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान विजय है" (प्रेमचंद, 1998, पृ. 154,भाग-18)। मेहता अपने भाषण में कहते हैं कि — "मैं नहीं कहता देवियों को विद्या की ज़रूरत नहीं है, है और पुरुषों से अधिक; मैं नहीं कहता देवियों को शक्ति की ज़रूरत नहीं है, है और पुरुषों से अधिक। लेकिन वह विद्या और वह शक्ति नहीं जिससे पुरुष ने संसार को हिंसा क्षेत्र बना डाला है; अगर वही विद्या और वही शक्ति आप भी ले लेंगी तो संसार मरुस्थल हो जाएगा। आपकी विद्या और आपका अधिकार हिंसा और विध्वंस में नहीं, सृष्टि और पालन में है" (प्रेमचंद, 1998, पृ. 126, भाग-15)। मेहता के कथनों से स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद एक प्रगतिशील लेखक होने के बावजूद स्त्री को 'घर की देवी' और 'माता' बनाकर ऊँचे मंच पर बैठा देना चाहते थे ताकि वे अपने हक़ के लिए विद्रोह न कर सकें, प्रेमचंद स्त्रियों द्वारा अपने अधिकारों के लिए लड़ने को पुरुषों के समान क्रूर बनना कहते हैं। उपन्यास में आधुनिक स्त्री की आलोचना करते हुए कहा गया है कि जो स्त्री केवल सजने-धजने और तितली की तरह उड़ने में अपना जीवन बिताती है वह सम्मान के योग्य नहीं है; वह केवल पुरुषों के मनोरंजन का साधन है।

'चारू गुप्ता' अपने शोध पत्र "पोर्ट्रायल ऑफ विमेन इन प्रेमचंद्स स्टोरीज: ए क्रिटिक" में प्रेमचंद के विषय में तर्क देते हुए कहती हैं कि प्रेमचंद पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित स्त्री को आसानी से स्वीकार नहीं करते, मिस मालती को भी प्रेमचंद के कथा-संसार में तब जाकर सम्मान मिलता है जब वह मिस्टर मेहता के प्रभाव में आ जाती है (गुप्ता, 1991, पृ. 102)।

मिस्टर मेहता उसे सिखाते हैं कि नारी का असली गौरव पुरुषों की नक़ल करने और आज़ाद रहने में नहीं बल्कि 'सेवा', 'करुणा' और 'मातृत्व' में है। इसके बाद तो मालती का पूरी तरह कायाकल्प हो जाता है; वह खद्दर पहनने लगती है, गाँव के गरीबों की सेवा करने लगती है और अपनी व्यक्तिगत आज़ादी का तो बिल्कुल त्याग कर देती है। यहाँ यह कहने में कोई दो राय नहीं होगी कि प्रेमचंद के लिए एक पढ़ी-लिखी स्वतंत्र चेतना वाली आधुनिक स्त्री तब तक स्वीकार्य और सम्माननीय नहीं हो सकती जब तक कि वह अपनी स्वतंत्रता को छोड़कर पारंपरिक आदर्शवादी ढाँचे के अनुसार मर्यादा और त्याग की देवी न बन जाए। अतः 'निर्मला' और 'गोदान' उपन्यास यह स्पष्ट करते हैं कि प्रेमचंद स्त्री की विवशता पर आँसू तो बहा सकते हैं लेकिन जब स्त्री वास्तविकता में अपनी आज़ादी और आधुनिकता की माँग करने लगती है तो प्रेमचंद को असहजता महसूस होने लगती है और वह उसे वापस 'आदर्श के शिकंजे' में कस देते हैं।

'चारू गुप्ता' और 'डॉ. धर्मवीर' के अनुसार वैचारिक अंतर्द्वंद्व

जैसा कि हम जानते हैं प्रेमचंद ने सामाजिक यथार्थ को अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है, जिसके चलते प्रेमचंद के साहित्य में स्त्री का जो दृश्य दिखाई देता है उसे केवल एक रचना कहना गलत होगा, वह तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की उपज है। इतिहासकार 'चारू गुप्ता' ने अपने शोध पत्र "पोर्ट्रायल ऑफ विमेन इन प्रेमचंद्स स्टोरीज: ए क्रिटिक" में भी इस बात को उभारा है कि प्रेमचंद के समय जो भी राष्ट्रवादी और सुधारवादी आंदोलन चल रहे थे, उनका प्रमुख उद्देश्य स्त्रियों को आधुनिकता से बचाते हुए एक 'घरेलू शुचिता' के रूप में तैयार करना था (गुप्ता, 1991, पृ. 93)। चारू गुप्ता के इसी ऐतिहासिक संदर्भ को प्रेमचंद की रचना 'बड़े घर की बेटी' की आनंदी और 'गोदान' की मिस मालती पर लागू करके पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद का स्त्री सुधार पितृसत्तात्मक सोच से प्रेरित है। चारू गुप्ता के अनुसार प्रेमचंद स्त्री को करुणा, त्याग, पवित्रता, सेवा की मूर्ति बनाने के चक्कर में अनजाने में ही पितृसत्ता के ढाँचे को और भी मजबूत कर देते हैं, जिससे स्त्री अपने वास्तविक अस्तित्व तक को नहीं पहचान पाती।

इसी वैचारिक अंतर्विरोध को दलित चिंतक डॉ. धर्मवीर की पुस्तक "प्रेमचंद: सामंत का मुंशी" में सटीकता से प्रस्तुत किया गया है। डॉ. धर्मवीर दृढ़ता से कहते हैं कि प्रेमचंद प्रगतिशीलता के बावजूद सामंती मानसिकता को नहीं छोड़ पाए। डॉ. धर्मवीर की इसी स्थापना को नारीवादी विमर्श पर लागू करने पर प्रेमचंद के स्त्री-मुक्ति के नजरिए में एक दोहरापन दिखाई देने लगता है, जहाँ एक ओर 'निर्मला' जैसी मध्यवर्गीय नायिका मर्यादा में जकड़ी है और उसके मूक आत्मसमर्पण को उदात्तता के रूप में दिखाया गया है, यही सामंती समाज की धारणा भी रही है कि स्त्री मौन को अपना आभूषण समझे। वहीं दूसरी ओर वे नायिकाएँ जो दलित और निम्न वर्ग से संबंध रखती हैं जैसे 'गोदान' की सिलिया और 'कफ़न' की बुधिया, ये मर्यादा जैसे बंधनों से बाहर हैं, इनका संघर्ष पेट की भूख और अपने अस्तित्व को बचाने के लिए है। डॉ. धर्मवीर की आलोचनात्मक स्थापना से यह प्रश्न खड़ा होता है कि प्रेमचंद ने सवर्ण स्त्रियों को तो 'मर्यादा' और 'आदर्श का पिंजरा' दिया लेकिन दलित स्त्रियाँ, जो आजीवन पेट के लिए सामाजिक प्रताड़ना सहती रहती हैं, उन्हें प्रेमचंद ने नाममात्र भी विद्रोह करते हुए नहीं दिखाया, क्या यह उसी सामंती समाज को नहीं दर्शाता जिसमें जाति और वर्ग के आधार पर निरंतर भेदभाव पाया जाता रहा है?

इस प्रकार चारू गुप्ता और डॉ. धर्मवीर दोनों ही आलोचक प्रेमचंद के 'आदर्शवाद' को स्त्री की मुक्ति के मार्ग में बाधा मानते हैं। चारू गुप्ता जहाँ स्त्री के 'देवत्वकरण' की बात करती हैं तो वहीं डॉ. धर्मवीर सामंती मानसिकता की बात करते हैं।

निष्कर्ष :-

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्षतः यह स्पष्ट होता है कि प्रेमचंद का कथा-साहित्य अंतर्द्वंद्वों और सामाजिक यथार्थ से गहराई से जुड़ा हुआ है। उन्होंने अपनी कलम के जरिए महिलाओं के यथार्थ से पाठकों को अवगत कराया। प्रेमचंद ने स्त्री-जीवन की विसंगतियों, जैसे— अनमेल विवाह, दहेज़ प्रथा और आर्थिक परतंत्रता को बड़ी सहानुभूतिपूर्वक रेखांकित किया है। प्रेमचंद ने रचनाओं में स्त्रियों को समाज में सम्मान दिलाने के भरसक प्रयास किए, प्रेमचंद पर अपने समय के उस सामाजिक परिवेश का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है, जिसमें स्त्री त्याग और आदर्श की आड़ में अपने अधिकारों से वंचित रह जाती थी; इसी कड़वे यथार्थ को उन्होंने प्रस्तुत किया। सामाजिक प्रभाव के चलते ही उनकी रचनाओं में 'आदर्शवाद' और स्त्री के 'देवत्वकरण' में सीमाएँ दृष्टिगोचर हुई हैं; अतः इन सीमाओं को असमर्थता न कहकर तत्कालीन सामाजिकता की उपज कहना ही उचित होगा।

संदर्भ सूची:

1. प्रेमचंद, मुंशी. (1960). सेवासदन. इलाहाबाद : हंस प्रकाशन।
2. प्रेमचंद, मुंशी. (1928). निर्मला (द्वितीय संस्करण). इलाहाबाद : चाँद कार्यालय
3. प्रेमचंद, मुंशी. (1998). गोदान. दिल्ली : मनोज पब्लिकेशन।
4. प्रेमचंद, मुंशी. (2015). "बड़े घर की बेटी और अन्य कहानियाँ". दिल्ली : शिक्षा भारती।
5. Gupta, Charu. (1991). "Portrayal of women in Premchand's stories: A Critique." Social Scientist, Vol. 19, No. 5/6 (May–June, 1991), pp. 88–113.
6. धर्मवीर, डॉ. (2006). प्रेमचंद : सामंत का मुंशी. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन।